

## ‘हत्यारे’ और गहराता संकट

राना कुन्जर सिंह ठाकुर

शोध-अध्येता, हिन्दी विभाग,  
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,  
सागर (म.प्र.) 470003

“**क्षमा** करो, तुम मेरे बंधु और मित्र हो  
इसीलिए सबसे अधिक दुखदायी  
भयानक शत्रु हो।”<sup>1</sup>

मुक्तिबोध की कविता ‘इसी बैलगाड़ी को’ की यह अंतिम पंक्तियाँ आदिवासी समाज और उनके मित्र बने सरकार और पूँजीपति, तथा सभ्य कहे जाने वाले वर्ग पर सटीक विचार करती है। वीर भारत तलवार कहते हैं-

“इस राष्ट्र से आदिवासी क्या चाहते हैं? आदिवासी चाहते हैं कि उनको उनके इलाके में उनके तरीके से रहने दिया जाए। राष्ट्र अगर उनका कुछ लेता है तो उनको भी राष्ट्र को दौलत में एक न्यायोचित हिस्सा मिलना चाहिए। इससे ज्यादा आदिवासियों ने कभी कुछ नहीं माँगा।”<sup>2</sup>

लोकवादी सरकार और तथाकथित सभ्य समाज ने आदिवासियों को बर्बर, जंगली और असभ्य समझा है। विकास के नाम पर अपनी माटी से विस्थापित करने का दुख ही दिया है। साथ ही उनकी अपार प्राकृतिक सम्पदा को छीनकर उन्हें गरीबी के घोर अंधकार में ढकेल दिया। आज स्थिति यह है कि भारत देश की 20 करोड़ आदिवासी अथवा वनवासी जनसंख्या में से लगभग 70% आदिवासी जनसंख्या गरीबी रेखा के नीचे जीवन जी रही है। जबकि इस राष्ट्र की प्राकृतिक सम्पदा का बहुत बड़ा हिस्सा इन्हीं के क्षेत्र में आता है। लाखों परिवार विस्थापित होकर शहरों तथा उद्योगों में, ईंट-भट्टों पर मजदूरी करके गह्रित जीवन जी रहे हैं। उनकी सभ्यता, भाषा-संस्कृति से उन्हें पूरी तरह काट दिया गया है, जिससे उनको अपने अस्तित्व को

बचाने का संकट उपस्थित हो गया है। इन निर्दोषों की हत्या बिना किसी हिचकिचाहट के हो रही है और हत्यारे विकास का भोंपू बजा-बजाकर हत्याओं के नये-नये तरीके खोज रहे हैं।

1990 के बाद उभरे उदारीकरण और भूमण्डलीकरण के इस दौर में हाशिए पर खड़े लोगों के शोषण के नये-नये तरीके सामने आ रहे हैं। देशी तथा विदेशी पूँजीवादी व्यवस्था किसी तरह से इस हाशिए का अस्तित्व मिटा देने पर आमदा है। रोचक यह है कि लोकतांत्रिक तरीके से चुनी हुई सरकारें इस व्यवस्था के पूर्ण समर्थन में है तथा दमन और शोषण में भरपूर सहयोग के साथ खड़ी हैं। अपने जल-जंगल-जमीन से जुड़े आदिवासियों पर जीवन के भाषा तथा संस्कृति के अस्तित्व को बचाये रखने का संकट गहराता जा रहा है। गंगा सहाय मीणा कहते हैं-

“आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व का इतना गहरा संकट इससे पहले नहीं पैदा हुआ। जब सवाल अस्तित्व का हो तो उसका प्रतिरोध भी स्वाभाविक है। सामाजिक व राजनीतिक प्रतिरोध के अलावा कला और साहित्य द्वारा भी इसका प्रतिरोध किया गया और उसी से समकालीन आदिवासी साहित्य अस्तित्व में आया।”<sup>3</sup>

कथाकार संजीव का कहानी संग्रह ‘झूठी है तेतरी दादी’ की कहानी ‘हत्यारे’ इस शोषण युक्त पूँजीवादी व्यवस्था के चरित्र को उजागर करती है। संजीव का लेखन संसार के सबसे कमजोर तबके की आवाज उठाता है। उनके यहाँ भारतीय समाज और आदिवासी सभ्यता का ‘संकट’ यथार्थ रूप में चित्रित होता है। कहानी ‘हत्यारे’ में लेखक पूँजीवाद के हिंसक होते जा रहे सर्वग्रासी रूप को उजागर करता है।

कहानी शुरू होती है जल, जंगल और जमीन की चाह में एक टेबुल पर बैठे पूँजीवादी व्यवस्था के चार प्रतीकों (लोकतंत्र, सामंत, उद्योगपति, नौकरशाह) की चर्चा से- “वे चार थे सिन्हा जी, अग्रवाल जी, प्रसाद जी और गोयनका साहब। नदी पर नजर गड़ाये, कभी-कभी वे चखना चख लेते, फिर दारू घूँटने लगते...।”<sup>4</sup> टेबुल पर नक्शा तथा नक्शे में नीली डोरी के रूप में पड़ी रतना नदी है। अपने-अपने स्वार्थ के लिए बहस करते चारों साहब अंततः नदी को चार टुकड़ों में बाँटकर कहकहा लगाते हुए मार्क्स के नारे “मजदूरों एक हो...” को उल्टा लटका कर एक हो जाते हैं।

पूँजी की सत्ता की शोषक प्रवृत्ति का इतिहास पुराना है किन्तु समकालीन परिदृश्य में यह भयावह हो चुका है। शोषक नये-नये तरीकों से क्रूरतम रूप में सामने आ रहे हैं। इनका गठबंधन ऐसा है कि इनसे लड़ने का हिम्मत दिखाओ तो, हमारी अपनी चुनी हुई सरकार इनकी रक्षक बन जाती है। हाशिए पर पड़े स्थानीय लोग विस्थापित हो जाएँगे या अपनी माटी और संस्कृति से कट कर विलुप्त हो रहे हैं। इससे इन्हें कोई सरोकार नहीं है। भूमंडलीकरण के इस दौर में पूँजी और सत्ता का गठजोड़ इस तरह से हुआ है कि पहले लूट लो फिर लूटी सम्पत्ति की रक्षा के लिए सेना लगा लो और मनमाने ढंग से अपने बीच बाँटो, खाओ। शोषकों के एक प्रतीक सिन्हा जी जो कि सरकार में मंत्री हैं इसी बात को लगभग धमकी देते हुए कहते हैं-

“कल को सरकार ऐसा कानून ला दे कि खेत न आपके, न आपके, सारी की सारी जमीन सरकार की है, वह आपसे जबरन छीनकर देशी बनिये को बेच दे या विदेशी बनिये को-तब आप क्या कर लेंगे?”<sup>5</sup>

जब शोषण होगा तो प्रतिरोध होना स्वाभाविक है। आदिवासियों पर शोषण अंग्रेजों के आने के बाद तीव्र गति से हुआ जिसके विरुद्ध आदिवासी नायक विरसा मुण्डा, सिदो कान्हू आदि लड़े। हालाँकि अंग्रेजों ने अपनी सेना और जमींदारों के साथ मिलकर इन विद्रोहों को कुचल दिया। फिर भी ये विद्रोह सफल हुए और अंग्रेजों को इनके पक्ष में कानून बनाने को मजबूर होना पड़ा। आदिवासी अस्मिता का एक मंच पर संगठित न हो पाना इनके आंदोलनों की असफलता का बड़ा कारण है। यही असंगठित स्थिति आज भी बनी हुई है। आज अंग्रेज नहीं हैं, परन्तु उदारवादी, लोकतांत्रिक सरकार अंग्रेजों से अधिक दमनकारी सिद्ध हो रही है। राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय पूँजीपतियों के उद्योगों की स्थापना के लिए केन्द्र-राज्य की सरकारें अध्यादेश लाकर नवीनतम प्रतिबंधों की शृंखला इन भोले-भाले आदिवासियों पर थोप रही है। असंगठित आदिवासी समाज में से कोई इनके प्रतिरोध में खड़ा होता है तो वह जगधर की माई की तरह भूख हड़ताल में ही मृत्यु को प्राप्त होगा अथवा आंदोलनकारी जगधर की तरह अपनी माई को आत्महत्या के लिए उकसाने के जुर्म में जेल जाएगा। पूँजी की सत्ता विजित होने पर ठहाके लगाती हुई अपने विद्रूप चेहरों के साथ और भयानक हो जाती है।

अपनी माटी, संस्कृति से जुड़े लोगों के सामने इन शोषकों का चरित्र छुपा नहीं है। परन्तु यह व्यवस्था अपने मोहपाश के जाल बिछाकर पहले पेट में बैठती है फिर विकास, मुआवजा, जीवन स्तर को ऊपर उठाना, आदि लुभावने वादे करने के बाद विश्वास जीतकर काटती है। जो इन बातों में नहीं आते उन्हें जल्द से जल्द मिटा देना महत्त्वपूर्ण हो जाता है। कहानी में जगधर और उसकी माई इसी मिटने वाली श्रेणी में आते हैं। जगधर का बयान बड़ा सीधा और सपाट है-

“हमें न कोयला चाहिए, न हीरा, न सोना, वह सब अगर है तो पूरे देश की सम्पत्ति है, हमें तो सिर्फ इतना नदी का पानी चाहिए। पानी!... वह आगे कहता है – “मगर हमारी चुनी हुई सरकार ने चोरी-चोरी, रातों-रात नदी को सेठ के हाथों बेच दिया। कानों-कान खबर न हुई। हम नदी पर गये तो मारे पीटे गये।”<sup>6</sup> कुछ इसी तरह से भूख हड़ताल पर बैठी जगधर की माई भी कहती है- “जब तक इन लुटेरों से छीनकर हमारी नदी हमको वापस नहीं कर दी जाती, तब तक हम मर जायेंगे लेकिन नदी के नजदीक नहीं जाएँगे। नदी हमारी है, सबकी है, इसका सौदा करने वाले बीच में कहाँ से पैदा हो गये भँड़वे?”<sup>7</sup> इन जलती चिंगारियों को सूखे कोयले तक पहुँचने से पहले ही तत्काल बुझा देते हैं। यानि तुम संगठित होकर उग्र हो जाओ या बात समाज में बहस का मुद्दा बने उससे पहले ही हम तुम्हें अस्तित्वविहीन बना देंगे। इस तरह के आग उगलते बयान शोषक व्यवस्था कभी पसंद नहीं कर सकती है। टेबुलों पर बैठे साहब लोगों में से एक अपने व्यापार की दुकान की बदनामी के डर से थोड़ा भयभीत होकर कहता है-

“अब लोग हमें हत्यारा घोषित करेंगे।”

तब दूसरा जनता का प्रतिनिधि उसे आश्वस्त करते हुए कहता है-

‘हयारा तो हमारी पुलिस न पकड़ के दे रही है उन्हें?’

‘किसे?’

‘जगधर की माई को आत्महत्या के लिए उकसाने वाला जगधर।’

‘अरे वाह!’<sup>8</sup>

इस कामयाबी पर खुश होकर वे एक दूसरे की ताली पीटते हैं और आह्लादित होकर विकराल हँसी हँसते हैं।

औद्योगिक विकास के नाम पर चल रहा यह खूनी खेल इतना विकट हो चुका है कि लाखों आदिवासी बेघर होकर दर-दर भटक रहे हैं। 1950 के बाद से कम्पनियों के लिए सरकार द्वारा अकेले झारखण्ड राज्य में 22 लाख एकड़ जमीन खरीदी/अधिग्रहित की गई। (पूरे देश की स्थिति का अनुमान इससे लगाया जा सकता है।) जिसमें 15 लाख से ज्यादा आदिवासी बर्बाद हो गये। देशी-विदेशी कम्पनियाँ जब से भारत आयीं और सरकार ने इनके पक्ष में नीतियाँ लागू की, तब से कई लाख आदिवासी समाज अपनी भूमि से विस्थापित होने की कगार पर है। 1950 से लगभग 65-70 लाख आदिवासी विस्थापित हो चुके हैं। प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधिक दोहन से पर्यावरणीय संतुलन बिगड़ चुका है। डॉ. रामदयाल मुंडा अपनी पुस्तक ‘आदिवासी अस्तित्व और झारखण्डी अस्मिता के सवाल’ में कहते हैं- “पर्यावरणगत जितनी क्षति स्वतंत्रता के पहले तक दो सौ वर्षों में हुई थी, उससे अधिक स्वतंत्रता के बाद के पचास वर्षों में हुई। खान-खदानों की अनियंत्रित खुदाई एवं भारी कल-कारखानों की सघन स्थापना से 60% क्षेत्र का वन (झारखण्ड राज्य) आच्छादन मात्र 13% पर उतर आया है।”

औद्योगिक कारखानों से निकले कचरे और धुँ से आलम यह है कि नदी, जल, तालाब, धरती और वायु का प्रदूषण घातक हो गया है। इसके कारण स्थानीय निवासी विभिन्न तरह के रोगों और व्याधियों में फँसकर नारकीय जीवन जीने को मजबूर हैं। अपनी धरती के मालिक होते हुए भी इतने गरीब हैं कि तन पर चिथड़ा नसीब नहीं है। विस्थापित हुए आदिवासी अपनी जड़ों से कटकर आधुनिक समाज की धुंध में अंधकारमय हैं। फलस्वरूप उनकी अपनी परम्परा, संस्कृति, भाषा, जीवनशैली या तो विलुप्त हो चुकी है या अंत के कगार पर है।

कहानी इस विविध स्तर पर हो रहे शोषण के विरुद्ध आदिवासी समाज की दोहरी पीड़ा को स्वर देती है। साथ ही मूक दर्शक बने समाज और बुद्धिजीवियों को आगाह कर रही है कि यदि मनुष्यता के अभिन्न अंग जल-जंगल और जमीन के साथ आदिवासी भी मिट जायेंगे, तो आप कब तक बने रहोगे? हयारे बढ़ रहे हैं। एक मंच, एक आवाज, एक स्वर से इनके विरुद्ध लड़ने की जरूरत अनिवार्य हो चुकी है।

**संदर्भ-**

1. मुक्तिबोध, गजानन मा., प्रतिनिधि कविताएँ, (सं. 2013) राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, पृ. 49
2. इस्पातिका (सं.- अविनाश कुमार सिंह) अंक 1, वर्ष-2, जन.-जून 2012, पृ. 14
3. फारवर्ड प्रेस, बहुजन साहित्य वार्षिकी (सं.- प्रमोद रंजन), अप्रैल, 2013 अंक, पृ. 84
4. संजीव, 'झूठी है तेतरी दादी', (2012), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 54
5. वही, पृ. 55
6. वही, पृ. 59
7. वही, पृ. 60
8. वही, पृ. 60
9. मुंडा, डॉ. रामदयाल, 'आदिवासी अस्तित्व और झारखण्डी अस्मिता के सवाल', 2002 (सं.2014), प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृ. 30